Pratnakīrti, Volume 5, Issue 2, 2024 ISSN: 2322-0694

रघुवंश के दुर्घट प्रयोग

राघव कुमार झा

राजकीय परास्नातक महाविद्यालय
काशीपुर, उत्तराखण्ड
raghav.jhaji@gmail.com
Phone+91 9411120317

सारांश

रचना-प्रक्रिया में कवियों द्वारा 'असामान्य' शब्दों या क्रियाओं का प्रयोग कभी तो रचना की अपनी माँग होती है, कभी तत्परक शास्त्र में कौशल-प्रदर्शन सम्बन्धी रचनाकार की स्वेच्छा। माघ, भारवि, भट्टि आदि के पूर्व ऐसे प्रयोग 'रचना की माँग' के स्तर पर देखे जाने के बावजूद सामान्य पाठकों के लिए 'व्युत्पत्ति' और 'सिद्धि' की अपेक्षा रखते हैं। युगीन वैयाकरण इन्हें व्युत्पन्न और सिद्ध करते आए हैं। इस आलेख के लेखक ने 'रघुवंश' के कुछेक उदाहरणों को चिह्नित कर उनकी व्युत्पत्ति और सिद्धि द्वारा 'काव्यपाठ' में पाठकीय सावधानी की ओर संकेत किया है। (सम्पादक)

मुख्यशब्द: कालिदास, रघुवंशम्, दुर्घट प्रयोग, भट्टोजिदीक्षित

व्याकरण शास्त्र की पुरातन परम्परा की तरह काव्यनिर्माण की परम्परा भी पुरातन काल से अद्यपर्यन्त अविच्छिन्न है। काव्यग्रन्थों की सुदीर्घ परम्परा में कुछ अव्युत्पन्न या दुर्घटपदों का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि इन पदों के साधुत्वस्थापनार्थ कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ ऐदम्पर्येण प्रवृत्त दृष्टिगोचर नहीं है किन्तु व्याकरण शास्त्र के कुछ आचार्यों ने स्वकीय ग्रन्थों में इस विषय का आनुषङ्गिकतया विवेचन किया है। इन महान् आचार्यों में से कुछ ने अष्टाध्यायी के क्रम से तत्तत् सूत्रों के व्याख्यानक्रम में काव्यगत दुर्घटपदों का परिशीलन किं वा साधुत्व स्थापन हेतु अद्भुत प्रयत्न किया है। इन आचार्यों में काशिकाकार वामन जयादित्य, काशिका व्याख्याता हरदत्त, न्यासकार, दुर्घटवृत्तिकार शरणदेव, व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार आदि आचार्यों के नाम सादर उल्लेखनीय है।

इसी प्रकार नव्यपाणिनीय व्याकरण की परम्परा में भट्टोजिदीक्षित, हरिदीक्षित, नागेशभट्ट आदि के नाम उल्लेखनीय है। अमरकोष के व्याख्यासुधाकार भानुजिदीक्षित, क्षीरस्वामी आदि भी इस दिशा में प्रवृत्त हैं। काव्यग्रन्थों के टीकाकारों में मल्लिनाथ, वल्लभदेव, जयमङ्गल आदि भी इस दिशा में प्रवृत्त एवं पद साधुत्वस्थापनार्थ बद्धकर्ण प्रतीत होते हैं।

निःसन्देह इन आचार्यों ने अपने मतों की स्थापना के क्रम में सूत्रकार पाणिनि, वृत्तिकार कात्यायन एवं भाष्यकार पतञ्जलि के मतों से अपने-अपने मतों की पुष्टि की है।

कालिदासीय काव्यग्रन्थों में भी इस विषय का इस दृष्टि से स्थान-स्थान पर सम्यक् विवेचन किया गया है।

Lalashankar Gayawal and Umesh Kumar Singh (Ed.) pp. 100-103
© Pratnakīrti Oriental Research Institute, Vārāṇasī, U.P., India
Recieved 08 September 2024, Accepted 16 November 2024
This paper is available at https://www.pratnakirti.com/Home/Index

काव्यग्रन्थों की विपुलता के कारण सम्प्रति कालिदास के विश्वविश्रुत महाकाव्य रघुवंश के ही कुछ दुर्घट पदों की साधुत्व विवेचना संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत है। यथा– रघुवंश के प्रथम सर्ग में ही एक प्रयोग है–

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥[1]

उपरोक्त श्लोक के प्रथम चरण में 'रघूणाम्' इस पद में बहुवचन विधान का औचित्य प्रतिपादनीय है। आचार्य भट्टोजिदीक्षित ने रघु शब्द की तदपत्यार्थ में लक्षणा के बहुवचनान्तत्व का समाधान किया है। भाष्यकार ने इस पदप्रयोग को असाधु ही माना है। कैयट ने– 'प्रकृतेरर्थाभिधाने अप्रत्ययदर्शनात्' इस वार्तिक के व्याख्यान के क्रम में अपत्य प्रत्यय के अभाव में भी 'रघूणाम्' इस बहुवचनान्त प्रयोग का साधुत्व स्वीकार किया है। आचार्य नागेश ने भी भाष्यकार, कैयट आदि के मत विवेचनोपरान्त 'रघुत्वेनैव ततो बोध इति नासाधुता' ऐसा कहा है। आचार्य विश्वेश्वर पन्त सूरि ने भी इसका समर्थन किया है। पुनश्च–

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥[2]

इस श्लोक के प्रथम पाद में प्रयुक्त 'तस्थिवांसम्' इस क्वस्वन्त प्रयोग की आलोचना की है। क्योंकि वैदिक व्याकरण में ऐसे प्रयोग का विधान है। इस स्थल में क्वस्वन्त पद प्रयोग की साधुत्व स्थापना के क्रम में काशिकाकार का मत विपक्ष में है किन्तु उद्योतकार नागेश ने लौकिक प्रयोग में भी इस प्रयोग की साधुता स्वीकार की है। एवमेव–

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम्।
विस्मापयन् विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥[3]

इस श्लोक के तृतीय पाद में प्रयुक्त 'विस्मापयन्' पद की साधुता के समालोचन क्रम में विभिन्न आचार्यों के मतों में विभेद के कारण 'विस्मापयन्' इस पाठ के स्थान पर 'विस्माययन' ऐसा पाठान्तर को भी स्वीकार किया गया है। कौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित ने 'विस्मापयन्' इस प्रयोग का समर्थन किया है। निष्कर्षतः कौमुदीकार ने– 'मनुष्यवाक् प्रयोज्यकर्त्री मनुष्यवाक् विस्मापयते तया सिंहो विस्मापयन् इति ण्यन्ताण्णौ शतेति व्याख्येयम्।' तत्त्वबोधिनीकार एवं नागेश आदि का भी यही आशय है। पुनश्च–

अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितौ वृथा स्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥[4]

महाकवि कालिदास के इस श्लोक के प्रथम चरण में, 'अलं महीपाल तव श्रमेण' यह प्रयोग भी दुर्घट प्रतीत होता है। सामान्यतया अलं शब्द का प्रयोग पर्याप्त के अर्थ में होता

[1]रघुवंशम् 1.9
[2]रघुवंशम् 2.29
[3]रघुवंशम् 2.33
[4]रघुवंशम् 2.34

है। जैसे– 'अलं मल्लो मल्लाय।' अतः 'अलङ्करुते कन्याम्' यहाँ अलङ्करण के अर्थ में चतुर्थी विधान विहित नहीं है। भाष्यकार के मत के समर्थन में कैयट ने भी भूषणवाची और प्रतिषेधवाची अलं शब्द के योग में चतुर्थी विधान का निषेध किया है। इसी के व्याख्यानक्रम में उद्योतकार नागेश ने 'अलं रोदनेन' इस प्रयोग में असाध्य के अर्थ में अलं शब्द प्रयोग का समर्थन किया है। इस प्रकार 'अलं श्रमेण' इस प्रयोग में भी असाध्य के अर्थ में अलं शब्द के प्रयोग का औचित्य सिद्ध होता है। पुनश्च–

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिदद्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कं पदवीं ततान॥[5]

इस श्लोक के प्रथम पाद में 'अग्रपाद' शब्द का प्रयोग पादाग्र के अर्थ में चिन्त्य माना गया है। 'पदस्य अग्रः' इस व्युत्पत्ति में पाद शब्द की उपसर्जन संज्ञा से पूर्व प्रयोग सम्भव है। कुछ आचार्यों ने अहितादिगणत्वात् समाधान करते हैं, किन्तु ऐसी स्थिति में अनियम की सम्भावना प्रतीत होती है और ऐसी व्युत्पत्ति बहुव्रीहि समास में ही सम्भव है। अतः मल्लिनाथ ने अभेदविवक्षा में 'अग्रश्चासौ पादश्चेत्यग्रपादः' ऐसी व्युत्पत्ति से कर्मधारय समास मानकर गुण और गुणी में अभेदोपचारपरक वामन का मत स्वीकार किया है। भेदविवक्षा में षष्ठी समास से पाद शब्द का ही पूर्व प्रयोग होगा। पुनश्च–

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाऽथर्वविदा कृतक्रियः।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्रतेजसा॥[6]

इस श्लोक के प्रथम चरण 'पवनाग्निसमागमो ह्ययम्' इस प्रयोग में 'द्वन्द्वे घि' इस सूत्र से अग्निशब्द का पूर्व प्रयोग सम्भव एवं विहित होता है। इस समस्या के समाधान हेतु आचार्यों ने पूर्वप्रयोग प्रकरण के अनित्य प्रदर्शित किया है। सूत्रकार द्वारा भी 'समुद्राभ्राद्धः'[7] इस सूत्र में 'अजाद्र्यदन्तम्'[8] इस सूत्र का और लक्षण हेत्वोः क्रियया इस सूत्र में 'अल्पाच्तरम्'[9] इस सूत्र का उल्लंघन किया गया है। अतः पूर्वप्रयोगप्रकरण आचार्यों द्वारा अनित्य माना गया है। अतः काशिकाकार ने कहा है– अयमेव लक्षण हेत्वोरिति निर्देशः पूर्वनिर्देश व्यभिचार चिह्नम्। मल्लिनाथ ने भी 'स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीम्'[10] इस प्रयोग के साधुत्वपक्ष में समाधानक्रम में ऐसा ही कहा है। इसी प्रकार 'साधारणोभूषण भूष्य भावः' आदि में मान्य है। 'पूर्णार्थाट्ठन्' 'परिव्यवेभ्यः क्रियः'[11] इस ज्ञापक से अल्पाच्तरपूर्व प्रयोग विधान अनित्य सिद्ध होता है। नागेशादि आचार्यों ने भी इसे स्वीकार किया है। अतः पूर्वनिपातशास्त्रों की अनित्यता ही समाधानोपाय है। पुनश्च–

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम्।

[5] रघुवंशम् 7.7
[6] रघुवंशम् 8.4
[7] अष्टाध्यायी 4.4.118
[8] अष्टाध्यायी 2.2.33
[9] अष्टाध्यायी 2.2.34
[10] किरातार्जुनीयम् 1.3
[11] अष्टाध्यायी 1.3.18

आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार ॥[12]

इस श्लोक के द्वितीय चरण में प्रयुक्त सहचरी शब्द के साधुत्व के विषय में शङ्का उठाई जाती है। 'चरेष्टः'[13] इस सूत्र में 'अधिकरणे शेतेः'[14] इस सूत्र से 'अधिकरणे' इस पद के अधिकार से अधिकरण के अर्थ में ही चर धातु से ट प्रत्यय का विधान माना जाता है। अतः अधिकरणार्थ में ही चर धातु से ट प्रत्यय विहित होने के कारण प्रस्तुत श्लोक में सहचर शब्दों से अदन्तत्वात् टाप् का विधान होना चाहिए। कौमुदीकार ने पचादि गण में चरट् ऐसा पाठ माना है। अतः टित्त्वान्ङीप् विधान से सहचरी शब्द की साधुत्व स्थापना की गई है। अत एव वामन ने भी काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति में 'अनुचरीति चरेष्टित्त्वात्' ऐसा सूत्र दिया है। अतः सहचरी अनुचरी आदि में चरतेष्टित्त्वात् इस वचन से ही समाधान मान्य है। पुनश्च–

दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ्मुखः।
मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत् ॥[15]

उक्त श्लोक के प्रथम चरण में प्रयुक्त 'दृढभक्ति' शब्द का साधुत्व चिन्त्य माना गया है। भक्ति शब्द के प्रियादिगण में पाठाभावदर्शन से 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियाऽदिषु'[16] इस सूत्र से पुंवद्भावविधान विहित है ऐसा कई आचार्य मानते है। यहाँ मल्लिनाथ ने सामान्यार्थ में नपुंसक मानकर 'दृढं भक्तिरस्य' इस व्युत्पत्ति की पुष्टि की है। भोजराज का भी यही मत है। शिष्टप्रयोगसङ्ग्रह में भी इसी मत का उपपादन है। आचार्य नागेश ने इस मत का खण्डन किया है। उनके मत से अदार्ढ्य निवृत्तिपरत्वेन दृढ शब्द के प्रयोग से कोई दोष नहीं है। 'सामान्ये नपुंसकम्' इस वार्तिक से नपुंसकत्व के विधान से 'स्त्रियाः पुंवत्'– इस सूत्र से पुंवद्भावविधान की आवश्यकता ही नहीं है। यही मत तत्त्वबोधिनी आदि टीका ग्रन्थों में भी मान्य है।

इसी प्रकार 'निविशतीम्', 'प्रभ्रंशयां', 'यो नहुषं चकार', 'प्रार्थयन्ति', 'कामयान्' प्रभृति पदों के साधुत्व स्थापन के क्रम में आचार्यों ने उपपादन पूर्वक स्वकीय मतों का स्थापन किया है।

[12] रघुवंशम् 9.57
[13] अष्टाध्यायी 3.2.16
[14] अष्टाध्यायी 3.2.15
[15] रघुवंशम् 12.19
[16] अष्टाध्यायी 6.3.34